चौपाल

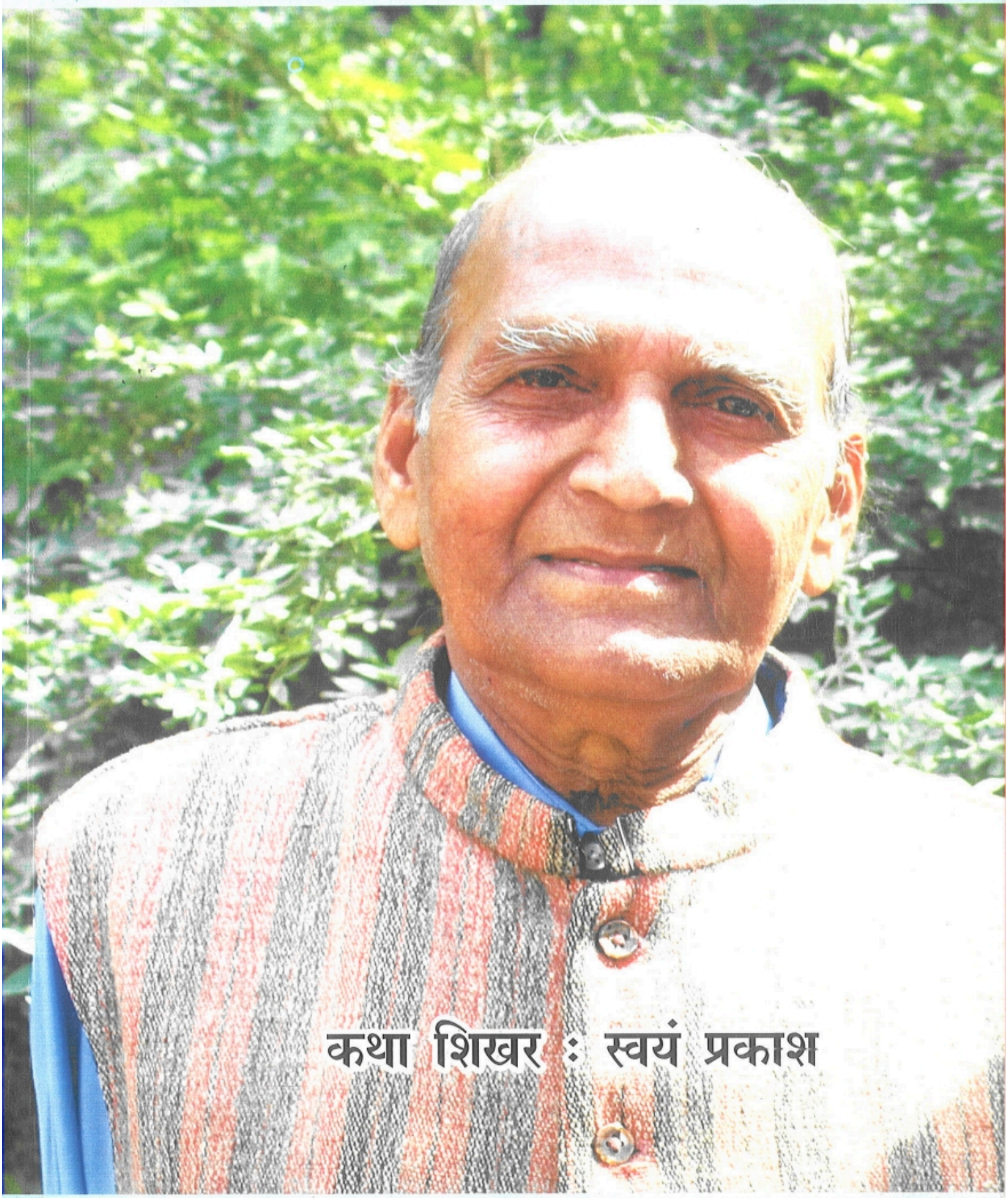

कथा शिखर : स्वयं प्रकाश

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ : कुछ नोट्स

पिछले कुछ वर्षों में कहानी के सर्जनात्मक ढाँचे में जो परिवर्तन आया है उसे संभव बनाने में आठवें दशक के कहानीकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उदयप्रकाश, संजीव, शिवमूर्ति, सृंजय आदि ने इस समय हिंदी कहानी को एक नया मिजाज़ दिया। इन्हीं में एक नाम स्वयं प्रकाश का भी है। इन कहानीकारों ने अपने-अपने ढंग से कहानी कहने की परंपरा को पुनर्जीवित किया। इनसे पहले कहानी कई पड़ाव पार कर चुकी थी। नई कहानी से जो यात्रा शुरू हुई उसमें अकहानी, समांतर कहानी, जनवादी कहानी जैसे कई आंदोलन जुड़े और समय के साथ तिरोहित हो गए। कथ्य और शिल्प के स्तर पर अनेक प्रयोग किए जाते रहे। कहानी के कहानीपन को मिटाकर उसे प्रतिबद्धता या अस्मिता के निश्चित एजेंडे से जोड़ा गया। ऐसे समय में उक्त लेखकों की कहानियाँ ताज़ी हवा के झोंके की तरह आईं।

इस परिदृश्य में स्वयं प्रकाश की कहानियाँ अलग पहचानी जा सकती हैं। उन्होंने कुछ अनछुए विषयों को लिया। उनकी कहानियाँ अपने देश और समाज की 'प्रोग्रेस रिपोर्ट' की तरह पढ़ी जा सकती हैं। वे उन रचनाकारों की पंक्ति में आते हैं जिनके पास एक संवेदनशील मन है और अपने आसपास की जिंदगी से उनका गहरा रिश्ता है। इन दोनों के संयोजन से जो बिंब उनकी कहानियों में बनते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि लेखक ने अपने परिवेश में चल रहे घटनाक्रम को नज़दीक से देखा और विश्लेषित किया है। उनका नाम लेते ही जो कहानियाँ एकदम ज़ेहन में कौंध जाती हैं, उनमें प्रमुख हैं– 'पार्टीशन', 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा', 'एक खूबसूरत घर', 'मंजू फालतू', 'बलि', 'चीं', 'घोड़ी', 'उनका ज़माना' आदि।

स्वाधीनता के बाद हमने प्रगति और विसंगति के अनेक पड़ाव देखे हैं। इस स्वतंत्र देश के नागरिक ने बार-बार स्वयं को व्यवस्था द्वारा छला गया महसूस किया है। उसका असंतोष कभी यातना तो कभी विद्रोह बनकर गूँजता रहा है। कुछ समय से यह स्थिति और भी विकट हो गई है। स्वयं प्रकाश इसी विडंबना के कहानीकार हैं। उनकी लगभग सभी कहानियों में जीवनगत विडंबनाओं के महीन तार कहानी का मूल ढाँचा निर्मित करते हैं। इस संदर्भ में सबसे पहले 'पार्टीशन' कहानी का उल्लेख करना चाहूँगी। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में विभाजन का अध्याय दर्दनाक, अविश्वसनीय घटनाओं से पटा पड़ा है। हिंसा और क्रूरता के प्रसंग भीतर तक झकझोरने वाले हैं। कहना मुश्किल है कि मानवीयता और मूल्यों पर टिके इस देश में व्यक्ति किस तरह इतना वहशी, अमानुषिक हो गया किंतु यह संवेदनहीनता केवल उन दिनों तक ही सीमित नहीं है उसके अनेक छोटे-बड़े हिस्से हमारे भीतर आज भी जीवित हैं जो कुर्बान भाई को कुर्बान मियाँ बना देते हैं। भय और असुरक्षा के ये अनपहचाने चेहरे जाने कब भीतर सर उठाने लगते हैं। ऐसा लगता है मानो पार्टीशन हर क्षण हो रहा है।

'पार्टीशन' कहानी में कथाकार ने कुर्बान अली को व्यक्ति के सीमित दायरों से मुक्त कर दिया है। कुर्बान अली सिर्फ़ व्यक्ति नहीं, एक संस्कृति हैं। वे शायरी करते हैं, झूठ नहीं बोलते, ठगी नहीं करते। अदब करना उनके व्यक्तित्व का हिस्सा है। आड़े वक्त हर एक के काम आते हैं। उनकी दुकान पढ़े-लिखों का अड्डा बन जाती है, जहाँ हर दम खुले ख्याल और प्रगतिशील विचार, चर्चाओं के केंद्र में रहते हैं। कुल मिलाकर कुर्बान भाई और उनकी दुकान 'सांस्कृतिक उदारवाद' का सटीक उदाहरण बन जाती है जहाँ अनेक हमख्याल लोग डेरा जमाए रहते हैं।

निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि कुर्बान भाई जैसे लोगों की वजह से ही भारत की

अखंडता सुरक्षित है। भारत-पाक विभाजन के दौरान जानो-माल पर संकट झेलते हुए, अपने अजीज़ों को खोकर भी यदि कुर्बान अली ने पाकिस्तान जाने का फैसला न कर, भारत में ही रहना चुना तो उसके पीछे कौन से कारण हैं, इसका पता लेखक के इन शब्दों से चलता है, ''क्योंकि 'जोश' नहीं गए, सुरैया नहीं गई, क्योंकि कुर्बान भाई को अच्छे लगने वाले बहुत से लोग नहीं गए। तो कुर्बान भाई क्यों जाते?'' कुर्बान भाई ने सच्चे अर्थों में इस देश और यहाँ रहने वालों से मुहब्बत की। कट्टरता के बर-अक्स उदारता व प्रगतिशीलता को चुना। जान-जोखिम उठाकर भी यहीं बसने का फैसला किया। स्वयं मजहबी इख़लाक निभाते हुए कुर्बान भाई अपने आसपास उसी उदारता एवं सांझी सांस्कृतिक विरासत का प्रसार करते रहे। कहानी में कुर्बान भाई का यह चित्रण विशेष महत्त्वपूर्ण है, हालांकि कहानी इससे नहीं बनती। कहानी बनती है आज़ाद हिंदुस्तान के बदले हालात में पनपती तंगख्याली से। धार्मिक कट्टरता और उन्माद के उस रूप से जो उन्हें कुर्बान भाई से 'मियाँ' बना देता है जो उन्हें सोचने पर मजबूर करता है कि ऐसी ओछी बातें सुनने से तो अच्छा था, पाकिस्तान चले जाते।

इतना ही नहीं एक क्षण में उनकी बरसों की कमाई, 'थोड़ा-सा अपनापन और सामाजिक सुरक्षा' मानो सब कुछ लुट गया। कुर्बान भाई रीते हाथ अपनी ज़िन्दगी पर लानत भेजने को मजबूर हैं। वे अचानक दोनों ही वर्गों का लक्ष्य बन जाते हैं। 'इमामबाड़े और शाखा वाले उन्हें समान रूप से घूर रहे हैं।' उन्हें उनकी औकात में रखने के लिए इस तरह आतंकित किया जाता है कि वे समझ जाएँ कि सत्ता पार्टी के ज़िला मंत्री के समक्ष उनकी या उनके अदबी मित्रों की कोई हैसियत नहीं।

शायद यही आज़ाद हिंदुस्तान की सबसे बड़ी त्रासदी है कि कुर्बान भाई जैसे लोग फ़िरकापरस्त ताकतों के सामने इतने बेबस नज़र आते हैं। असुरक्षा का आतंक इतना बढ़ जाता है कि कुर्बान भाई दुकान में ताला लगा टोपी पहने, लतीफ भाई के साथ मस्जिद जाने में ज़्यादा सुरक्षित महसूस करते हैं। उनके मन में यह ख्याल पक्का होने लगता है कि पार्टीशन हुआ नहीं था, हो रहा है। यह सीमाओं का नहीं, दिलों का 'पार्टीशन' था। स्वयं प्रकाश ने कुर्बान भाई की तकलीफ को जिस तरह कहानी में निबाहा है वह बेजोड़ है जबकि कहानी में एक जगह कहानीकार ने स्वयं लिखा–'एक आदमी के दर्द और संघर्ष की तवील दास्तान को सिर्फ़ अपनी सुविधा के लिए चंद अल्फाज में निबटा देना, न सिर्फ़ ज़्यादती है, बल्कि उस संघर्ष का अपमान, उसका मज़ाक उड़ाने जैसा भी है।' इस बयान के बावजूद लेखक कुर्बान भाई के दर्द में पाठक की साझेदारी को न केवल सुनिश्चित करता है बल्कि पूरी व्यवस्था और हमारे सामाजिक आचरण पर सवाल भी उठाता है। स्वयं प्रकाश कहानी के मूल में आम आदमी की पीड़ा को परत-दर-परत जिस महीन किस्सागोई शैली में उकेरते हैं और जिस संयमित आवेग से कहानी कहते हैं उससे पाठक मात्र कहानी का आस्वादक या भोक्ता नहीं रहता, वह उसका भागीदार बनकर उसमें शामिल हो जाता है।

स्वतंत्र भारत में, भय-असुरक्षा और सांप्रदायिकता का एक अन्य चेहरा स्वयं प्रकाश की कहानी 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा?' में मिलता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में धार्मिक उन्माद, दंगों की राजनीति, आम आदमी की लाचारी और उसके स्वाभिमान को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने वाली, यह एक सशक्त अविस्मरणीय कहानी है। हाल ही में मुज़फ्फर नगर के दंगों ने उन अनेक सांप्रदायिक दंगों के दर्द को फिर हरा कर दिया जो आज़ादी के बाद और आज़ादी के बावजूद इस देश में होते रहे हैं। 1984 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सिक्खों के प्रति जो व्यापक हिंसा हुई वह दिल दहलाने वाली थी। 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद विध्वंस, फिर गुजरात में गोधरा कांड और अब मुज़फ्फर नगर–घृणा की सीमा को छूती असहिष्णुता कब तक अपने विरोधियों को देश-दुनिया से मिटाकर शांत होगी।

'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा?' कहानी एक रेल यात्रा का विवरण है। रेल का

डिब्बा मानो पूरे समाज का प्रतीक हो। यात्रा करने वालों में अलग-अलग वर्ग और अलग-अलग फितरत के लोग शामिल हैं। यात्रा के दौरान एक राह के हमसफर होने के नाते एक-दूसरे से संबद्ध और निर्लिप्त। रेल के उस डिब्बे में, यात्रा करने वालों में कई लोग हैं और उनके बीच हैं एक अकेले बूढ़े सरदार जी। सन् 1984 में, 'अकेले बूढ़े सरदार जी' इस वाक्य के अनेक अव्यक्त आशय हैं। ऊपर की बर्थ पर कोने में 'चुपचाप चित लेटे' सरदार जी मन ही मन किसी दुर्घटना की आशंका से त्रस्त हैं। अनाम डर की स्याही उनके चेहरे और मुद्राओं में साफ झलक रही है। एक निरीह, लाचार, बूढ़ा जो किसी स्टेशन पर भीड़ के उन्माद को देखकर इतना डर जाता है कि कहता है, "मैं लैट्रीन में बंद हो जाता हूँ।" भीड़ के खौफ़ और निर्दोष व्यक्ति की निरीहता के तनाव से ही कहानी बनती है। आख़िरकार एक स्टेशन पर सरदार जी रेल के डिब्बे से उतार लिए जाते हैं। बिस्तर, अटैची, चादर, जूते, पगड़ी के साथ सरदार का सब लुट जाता है। नंगा करके मारा जाता है। उसके आसपास रेल के डिब्बे के सभी सहयात्री हैं, रेलवे स्टेशन पर प्रशासन अधिकारी भी रहे होंगे लेकिन कोई कुछ नहीं कर पाता या नहीं करता। भारत का औसत नागरिक सिर्फ़ तमाशा देखता रह जाता है। उसके मन में आशा-आशंका के घने साये हैं, होंठों पर प्रार्थना और कहीं राहत का यह अहसास कि अच्छा हुआ 'मैं सरदार नहीं हूँ' या फिर जो पिट रहा है वो मैं नही हूँ। स्वयं को यातना-भोगी से अलग कर लेना पलायन का रास्ता तो है पर इस कायरता व नपुंसकता ने ही फिरकापरस्त ताकतों को बल दिया है जिसके परिणाम हम और हमारा लोकतंत्र झेल रहे हैं। इस सारे वर्णन-विवरण में स्वयं प्रकाश कई तरह के प्रश्न छेड़ देते हैं लेकिन उनका ध्यान उनसे ज़्यादा सरदार जी की उस हिम्मत पर है जो शुक्र मानता है कि वह ज़िंदा बच गया। वह डिब्बे के साथियों को अपनी दशा के लिए उत्तरदायी भी नहीं मानता और सिर्फ़ अगली सुबह तक, बिलासपुर स्टेशन तक चाय-पानी के लिए पैसा उधार माँगता है। ज़िन्दगी की आपा-धापी में, बड़े-बड़े मुद्दों और उछाले गए फ़िकरों के बीच स्वयं प्रकाश की निगाह ऐसे मार्मिक एवं कारूणिक प्रसंगों को चुन लेती है।

स्वातंत्र्योत्तर विडंबना में एक नया अध्याय जोड़ा 90 के बाद की आर्थिक नीतियों ने। भूमंडलीकरण के नाम पर बाज़ारवाद के बढ़ते वर्चस्व ने अनेक स्तरों पर मानवीय गरिमा का हनन किया। उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच पलती स्वकेन्द्रिक दृष्टि ने सफलता और सार्थकता के सभी मापदंड बदल दिए। आर्थिक विषमता से उत्पन्न सामाजिक अंतर्विरोधों में निहित हिंसा, उजागर हिंसा से अधिक क्रूर एवं अमानवीय है। फिर भी इन सारी स्थितियों पर कोई सवाल नहीं उठाता। यह विरोध का नहीं समझौतों का समय है। स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में इन विकृतियों को रेखांकित किया है।

आम आदमी आज बाज़ारों मे सजे सामान के बिना स्वयं को शर्मसार महसूस करता है। संपत्ति और विलास के साधन ही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बन गए हैं। सब एक अंधी दौड़ में दौड़ रहे हैं और जो पीछे छूट गया वह फालतू है–'सरप्लस' और 'यूज़लेस'। 'यूज़ एंड थ्रो' के ज़माने में सिर्फ़ सामान ही फालतू नहीं है 'कहाँ जाओगे बाबा' के मास्टर जी और 'मंजू फालतू' की मंजू भी फालतू है। क्या इससे बड़ी कोई हिंसा हो सकती है जो व्यक्ति को सफलता के उपभोक्तावादी निश्चित चौखटों में फिट न होने के कारण फालतू बना दे।

स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानी का शीर्षक चुना 'मंजू फालतू।' फालतू शब्द त्रासद है और कारूणिक भी क्योंकि यह मानवीय गरिमा के प्रतिकूल है। इस स्थिति को एक विशेष आर्थिक ढाँचा रच रहा है जिसकी ऊपरी चमक और ग्लैमर ऐसा है कि हम उसकी गिरफ्त में कैद स्वयं को लगभग विकल्पहीन स्थिति में पाते हैं। कभी 'मंजू फालतू' कहानी की मंजू ने स्वेच्छा से परिवार के लिए नौकरी छोड़ी थी और अब बच्चों के बड़े होते ही वह घर के लोगों के लिए फालतू हो गई थी और बाहर की दुनिया के लिए पुरानी और 'ऑब्सलीट'। "पता नहीं इतनी जल्दी-जल्दी चीज़ों को कौन बदल रहा था और ऐसा करने के पीछे उसका क्या स्वार्थ था, लेकिन हो ज़रूर रहा था और एकदम निष्प्रतिरोध, बल्कि

स्वागत भाव से।'' स्वयं प्रकाश मंजू की पीड़ा तक पहुँचते-पहुँचते उस व्यवस्था पर उँगली रखना नहीं भूलते जहाँ बाज़ार का मिजाज़ शहर और लोगों के मिजाज़ को तय करता है। तकनीक और व्यक्ति सभी समकोण पर खड़े एक साथ पुराने पड़ रहे थे। आत्म-विश्वास और क्षमता के बावजूद मंजू हारी हुई लड़ाई लड़ रही थी। उसकी बात सुनने का किसी को समय न था, वह अपने आपको मंजू फालतू कहने को विवश थी। यह कहानी सिर्फ़ मंजू की नहीं हमारे आस-पास कितनी औरतें हैं जो इस अकेलेपन की पीड़ा को दिन-रात झेलती हैं। मंजू की यातना उसके स्त्रीत्व तक ही सीमित नहीं (स्त्रीत्व तो उसे और गंभीर बनाता है) यह हर उस व्यक्ति की कहानी है जिसे इस अर्थ व्यवस्था ने निचोड़कर हाशिये पर फेंक दिया गया है। 'कहाँ जाओगे बाबा' के मास्टर रामरतन वर्मा की स्थिति भी लगभग यही है। वे इस नए यथार्थ से इतने त्रस्त हैं कि उन्हें लगता है, ''कहीं कुछ भयंकर गलत ज़रूर हुआ है और वे जिंदगी के इम्तिहान में फेल हो गए हैं।''

स्वयं प्रकाश ने अपनी अधिकांश कहानियों में अपने लेखकीय दायित्व का निर्वाह इसी रूप में किया है कि अपने आसपास फैले परिचित चेहरों की आंतरिक टूटन से हमारी पहचान कराई है। उपरोक्त सारी कहानियाँ इसका उदाहरण हैं। 'सुलझा हुआ आदमी' कहानी में वे सिद्धांत से भी टकराते हैं। बरसों-बरस समाजवाद हमारे लिए संभावना का प्रतीक रहा है—परिवर्तन की संभावना, समता मूलक समाज की स्थापना, व्यक्ति की गरिमा का पक्षधर लेकिन यह सिद्धांत अनेक सदिच्छाओं के बावजूद हमें वह नहीं दे पाया जो उसकी मूल संकल्पना में निहित था। अवसरवादी दुनिया में 'सिद्धांतों पर चलने वाले सिपाहियों ने या तो स्वेच्छा से अपने रास्ते बदल लिए या बदलने को मजबूर हुए हैं। समाजवादी सिद्धांत और पूँजीवादी हक़ीकत की टक्कर ने विश्व भर में जैसे व्यक्ति की समता और स्वतंत्रता के चिथड़े कर दिए। समाजवाद का अंत किन्हीं अर्थों में मानवीय संभावनाओं का अंत है। बदलते ज़माने में मार्क्सवाद की भी नई-नई व्यवस्थाएँ हो रही हैं जो गरीबी को ग्लैमराइज़ कर पूँजीवादी उद्देश्यों को ही पूरा कर रही है। इस कहानी में स्वयं प्रकाश इसी ओर इशारा करते हैं।

इन्हीं सब सवालों को नए सिर से टटोलती स्वयं प्रकाश की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कहानी है—'बलि'। इस लंबी कहानी में लेखक अत्यंत विस्तार से एक आदिवासी लड़की के 'पागल' बनाए जाने की प्रक्रिया को दर्शाता है। यह विस्थापन है अपने जंगल-जमीन और मन से। यह विस्थापन है निरंतर छीजते अपने अस्तित्व से। शहरी घरों में घरेलू काम के लिए लाई गई आदिवासी लड़कियों के शोषण की कहानियाँ आज दिल दहला देने वाली सीमा तक पहुँच गई हैं। इस स्थिति ने इतना गंभीर रूप धारण कर लिया हे कि लगभग मानव तस्करी की तरह संयोजित गैंग इस कारोबार में जुटे हैं। 'बलि' कहानी इस समस्या के अत्यंत मानवीय पहलू को चिन्हित करती है जहाँ वह लड़की अपनी आर्थिक विवशता के कारण शहरी मेमसाहब (मामी) के यहाँ काम करने को मजबूर है। अपने लिए दो वक्त भोजन और कुछ रुपयों से खरीदे जाने वाली परिवार की आर्थिक सुरक्षा के लिए वह एक अजब अग्निपरीक्षा से गुज़रती है जिसका त्रासद अंत उसकी आत्महत्या में होता है।

पहले-पहल मामी के घर में काम करते हुए उसे सुविधाओं का आकर्षण घेरता है। अपने इलाके में उसे स्पर्धा की दृष्टि से देखा जाता है लेकिन लड़की का मन अपनी खोई आज़ादी के लिए भी मचलता है। लादे गए अनुशासन पर उसे बार-बार क्रोध आता है। बहुत बार संभावनाओं के विरुद्ध वह यह भी कल्पना करती है कि मामी का जो बच्चा उसके संरक्षण में है उस पर उसका प्रभाव जम जाए। वह सोचती है—'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बच्चा उससे उसकी भाषा सीख ले और यहाँ के लोगों से, फ़सलों से, मौसमों से प्यार करने लगे।' लेकिन उसकी नियति उसे मजबूर करती है कि वह बच्चा उसका तिरस्कार करे और वह मूर्खता से हँसती रहे। दोनों की ज़रूरत तो अवश्य उन्हें एक-दूसरे से बाँधती है किंतु उनके बीच का वर्ग-भेद उन्हें नदी के दो किनारों की तरह मिलने नहीं देता। बार-बार अपनी

आज़ादी छिनने पर विद्रोहिणी बन जाने वाली लड़की इस बात में अपनी जीत समझने लगती है कि उस घर के लोग उस पर निर्भर हो जाएँ। जिसे वह लक्ष्य मान बैठी है वही उसकी अस्मिता का क्षरण है।

मामी अपनी ज़रूरत के लिए उसे अपने साथ शहर ले जाती है। शहर में उसके लिए नई दुनिया खुलने लगती है। वह नाइट स्कूल में पढ़ना चाहती है। पास वाले घर के नौकर से प्रेम करना चाहती है। सुंदर भविष्य के सपने देखना चाहती है और इसी अपराध के लिए वापस भेज दी जाती है।

दो आर्थिक वर्गों के बीच अपनी जगह तलाशती लड़की किसी की भी नहीं हो पाती। वह अपने वर्ग की भी शत्रुता झेलने को विवश है। उसकी उड़ान के पंख कतरने के लिए उसे बिना पूछे एक निकम्मे अहंवादी पुरुष से ब्याह दिया जाता है। पति के हाथों निरंतर अपमान और दैहिक शोषण झेलती उस लड़की के पास फाँसी लगा लेने के सिवा कोई विकल्प नहीं बचता। किनसे बदला लेने निकली थी और अपनी बलि देकर त्राण पाया। ये सभी स्थितियाँ उपभोक्तावादी संस्कृति के उस चेहरे को उजागर करती हैं जहाँ आर्थिक स्थिति के कारण एक व्यक्ति दूसरे का उपभोक्ता बन जाता है और 'अस्मिता का संकट' इतना भयावह रूप धारण कर लेता है। कहानी की केंद्रीय पात्र 'लड़की' है, उसका स्त्री होना 'वर्ग' विवशता को एक अतिरिक्त आयाम देता है।

आज के समय में जब कहानी या साहित्य अपनी प्रेरक परिवर्तनकामी भूमिका खोकर मात्र 'पाठ' बनकर उभर रहा है ऐसे समय में स्वयं प्रकाश का लेखन और उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता आश्वस्त करते हैं। अपनी लगभग सभी कहानियों में स्वयं प्रकश ने लेखकीय पक्षधरता को सीधे हस्तक्षेप की तरह, व्यंजित की अपेक्षा कथित तौर पर व्यक्त किया है और उसके माध्यम से कहानी को सामाजिक बहस में तब्दील कर दिया है। इस दृष्टि से 'चीं-घोड़ी' तथा 'उनका ज़माना' कहानियाँ भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय इतिहास का एक दौर वह था जब साधन साध्य से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। न्यायोचित साधनों का प्रयोग किसी भी आंदोलन की कसौटी रहा। आज के समय में सारा बल लक्ष्य-प्राप्ति पर है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'चीं-घोड़ी' इस संदर्भ को इस रूप में उपस्थित करती है कि धन और सत्ता की शक्ति से संपन्न अविनाश अपने मित्र लालू को लगातार घोड़ी बनाए हुए है और उस पर सवारी कर रहा है। बचपन के 'चीं-घोड़ी' खेल से लेकर बड़े होकर जीविका के प्रश्नों से जूझने तक की प्रत्येक स्थिति में अविनाश अनुचित साधनों का प्रयोग कर लालू का शोषण कर रहा है। लालू शारीरिक रूप से बलिष्ठ होकर भी सामाजिक महत्त्व-क्रम की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है इसलिए लालू ने इस सारी स्थिति को अपनी नियति मानकर स्वीकार कर लिया है। फिर भी रचनाकार के लिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि इस स्थिति को बदलने में क्या वह कुछ नहीं कर सकता--"क्या मैं कुछ ऐसा कर सकता हूँ कि अविनाश लालू के पेट में नोकदार जूते नहीं चुभा सके? या क्यों नहीं मैं इस खेल के ही औचित्य पर सवाल उठाता?"

इसी तरह, 'इनका ज़माना' कहानी में लेखक उस सामाजिक अंतर्विरोध को सामने लाता है जिसके तहत दलित वर्ग के समान अधिकारों की चर्चा करते हुए प्रायः सवर्ण जातियों के लोग कहते तो हैं--"हाँ भई, ज़माना इन्हीं का है।" लेकिन अपने आचार-व्यवहार में बराबर इनसे दुर्व्यवहार करते हैं और उनके विकास के मार्ग अवरुद्ध करते हैं। प्रतिरोध करने पर उन्हें गुंडों से पिटवाकर उनका दमन किया जाता है ऐसी स्थिति में लेखक प्रश्न करता है--"क्या वाकई ज़माना इन्हीं का है? या हमने ही ज़माने को अपने बाप का मकान समझ रखा है जिसमें केवलराम और उसके साथियों को घुसने नहीं दे रहे?"

लेखक का यह स्वर व्यक्ति के विद्रोह को मज़बूत करता है। व्यवस्था के सम्मुख विद्रोह ही व्यक्ति का एकमात्र हथियार है और रचनाकार की पक्षधरता व्यक्ति के इस विद्रोह के पक्ष में लेखक की सक्रिय भागीदारी का प्रमाण है।

अब सवाल यह है कि लेखक की यह उपस्थिति कहानी के 'फॉर्म' को कैसे प्रभावित करती

है। स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में कहानी कहने की निजी शैली विकसित की है। उनके यहाँ कहानी लिखी नहीं जाती, सुनाई जाती है। 'पार्टीशन' और 'बलि' कहानी के उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

"आप कुर्बान भाई को नहीं जानते? कुर्बान भाई इस कस्बे के सबसे शानदार शख्स हैं।'

(पार्टीशन)

"प्रिय पाठक! मैं अगर भगवती चरण वर्मा टाइप लेखक होता तो कितनी आसानी से अभी कह देता कि इस तरह धीरे-धीरे लड़की को बच्चे से समचुच प्यार हो गया और वह हृदय से इन लोगों की शुभाकांक्षी हो गई।...पर ऐसा कुछ नहीं हुआ।" (बलि)

यह शैली किस्सागोई की वह शैली है जिसमें कहानी सुनाने का रस विद्यमान है। इन कहानियों ने पाश्चात्य पद्धति की शॉर्ट स्टोरी के ढाँचे में भारतीय कथा परंपरा को जीवित किया है। हमारे यहाँ तथाकथित कहानी से बहुत पुरानी एक कथा-परंपरा रही है जो लेखक और पाठक की सहभागिता से विकसित होती है। स्वयं प्रकाश की कहानियाँ उसकी याद दिलाती हैं। पाठक से सीधे संवाद स्थापित करने की कला इन कहानियों को अधिक विश्वसनीय बनाती है और कहानीकार जिस सामाजिक मुद्दे को उठाने की कोशिश कर रहा है उस पर गंभीरता से सोचने को बाध्य करती हैं कहानी पढ़ने के बहुत बाद तक उनके सवाल पाठक के मन में गूँजते रहते हैं। कहानीकार ऐसे प्रतीक गढ़ता है जिनमें शब्दों की मितव्यता व अर्थ की व्यापकता एक साथ सिद्ध हो जाती है। स्वयं प्रकाश की कहानियों को उनके सामाजिक पक्ष के साथ-साथ अभिव्यक्ति के इस अनूठे ढंग के लिए भी पढ़ा जाना चाहिए। कहानी के इतिहास में ये अपना प्रतिमान स्वयं है।

रेखा सेठी
हिंदी विभाग, इंद्रप्रस्थ कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली